निर्युक्तिसाहित्य : एक परिचय

- *डॉ. श्रीप्रकाश पाण्डेय*[*]

आगम साहित्य के गुरु गंभीर रहस्यों के उद्घाटन के लिये निर्मित व्याख्या साहित्य में निर्युक्तियों का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। जैन आगम साहित्य पर सर्वप्रथम प्राकृत भाषा में जो पद्यबद्ध टीकाएँ लिखीं गईं वे ही निर्युक्तियों के नाम से विश्रुत हैं। निर्युक्तियों में मूलग्रन्थ के पद पर व्याख्या न करके, मुख्य रूप से पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या की गई है। निर्युक्तियों की व्याख्या-शैली, निक्षेप-पद्धति की है। निक्षेप पद्धति में किसी एक पद के सम्भावित अनेक अर्थ करने के पश्चात् उनमें से अप्रस्तुत अर्थों का निषेध कर प्रस्तुत अर्थ का ग्रहण किया जाता है। यह पद्धति जैन न्यायशास्त्र में अत्यधिक प्रिय रही है। इस शैली का प्रथम दर्शन हमें अनुयोगद्वार[1] में होता है। निर्युक्तिकार भद्रबाहु ने निर्युक्ति के लिये यही पद्धति प्रशस्त मानी है। निर्युक्ति का प्रयोजन स्पष्ट करते हुये उन्होंने लिखा है -- "एक ही शब्द के अनेक अर्थ होते हैं, कौन सा अर्थ किस प्रसंग के लिये उपयुक्त है, श्रमण महावीर के उपदेश के समय कौन सा अर्थ किस शब्द से सम्बद्ध रहा है, प्रभृति बातों को लक्ष्य में रखकर अर्थ का सम्यक् रूप से निर्णय करना और उस अर्थ का मूलसूत्र के शब्दों के साथ सम्बन्ध स्थापित करना निर्युक्ति का कार्य है।[2] दूसरे शब्दों में कहा जाय तो सूत्र और अर्थ का निश्चित सम्बन्ध बताने वाली व्याख्या निर्युक्ति है -- "सूत्रार्थयोः परस्परं निर्योजनं सम्बन्धनं निर्युक्तिः[3]" अथवा निश्चय से अर्थ का प्रतिपादन करने वाली युक्ति को निर्युक्ति कहते हैं।[4]

प्रसिद्ध जर्मन विद्वान शार्पेन्टियर ने निर्युक्ति की व्याख्या करते हुये लिखा है "निर्युक्तियाँ अपने प्रधान भाग के केवल इंडेक्स का कार्य करती हैं-- वे सभी विस्तार युक्त घटनावलियों का संक्षेप में उल्लेख करती हैं।[5]

अनुयोगद्वारसूत्र में निर्युक्तियों के तीन प्रकार बताये गये हैं --

1. निक्षेपनिर्युक्ति, 2. उपोद्घातनिर्युक्ति, 3. सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्ति। ये तीनों भेद विषय की व्याख्या पर आधारित हैं। डॉ. घाटगे[6] ने निर्युक्तियों को निम्न तीन भागों में विभक्त किया है --

1. मूलनिर्युक्ति अर्थात् जिसमें काल के प्रभाव से कुछ भी मिश्रण न हुआ हो। जैसे "-- आचारांग और सूत्रकृतांग की निर्युक्तियाँ।
2. वे निर्युक्तियाँ जिनमें मूलभाष्यों का सम्मिश्रण हो गया है, तथापि वे व्यवच्छेद्य हैं। जैसे -- दशवैकालिक व आवश्यकनिर्युक्तियाँ।
3. वे निर्युक्तियाँ जो आजकल भाष्य या बृहद्भाष्य में समाविष्ट हैं इनके मूल और भाष्य में इतना सम्मिश्रण हो गया है कि उन दोनों को पृथक् करना दुष्कर है। जैसे -- निशीथ आदि की निर्युक्तियाँ।

यह विभाजन वर्तमान में प्राप्त निर्युक्ति साहित्य के आधार पर किया गया है।

रचनाकाल -- निर्युक्तियों के काल निर्णय के सम्बन्ध में विद्वानों में मतैक्य नहीं है, फिर भी इनका रचनाकाल विक्रम संवत् 300 से 600 के मध्य माना जाता है।

निर्युक्तिकार -- जिस प्रकार महर्षि यास्क ने वैदिक पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या करने के लिये निघण्टुभाष्य रूप निरुक्त लिखा, उसी प्रकार जैनागमों के पारिभाषिक शब्दों के व्याख्यार्थ आचार्यभद्रबाहु द्वितीय ने निर्युक्तियों की रचना की। ध्यातव्य है कि निर्युक्तिकार आचार्यभद्रबाहु, चतुर्दशपूर्वधर, छेदसूत्रकार, भद्रबाहु से पृथक हैं,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्योंकि निर्युक्तिकार भद्रबाहु ने अनेक स्थलों पर छेदसूत्रकार श्रुतकेवली भद्रबाहु को नमस्कार किया है।[7] यदि छेदसूत्रकार और निर्युक्तिकार एक ही भद्रबाहु होते तो नमस्कार का प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि कोई भी समझदार ग्रन्थकार अपने आपको नमस्कार नहीं करता है। इस संशय का एक कारण यह भी है कि भद्रबाहु नाम के एक से अधिक आचार्य हुये हैं। श्वेताम्बर मान्यता के अनुसार चतुर्दशपूर्वधर आचार्यभद्रबाहु नेपाल में योगसाधना के लिये गये थे, जबकि दिगम्बर मान्यता के अनुसार यही भद्रबाहु नेपाल में न जाकर दक्षिण में गये थे। इन दोनों घटनाओं से यह अनुमान हो सकता है कि ये दोनों भद्रबाहु भी भिन्न-भिन्न व्यक्ति थे परन्तु निर्युक्तिकार भद्रबाहु इन दोनों से भिन्न तीसरे व्यक्ति थे। ये चतुर्दशपूर्वधर भद्रबाहु न होकर विक्रम की छठीं शताब्दी में विद्यमान एक अन्य ही भद्रबाहु हैं जो प्रसिद्ध ज्योतिर्विद् वाराहमिहिर के भाई माने जाते हैं। निर्युक्तियों में इतिहास की दृष्टि से भी अनेक ऐसी बातें आयीं हैं जो श्रुतकेवली भद्रबाहु के बहुत काल बाद घटित हुई। अतः निर्युक्तिकार भद्रबाहु द्वितीय हैं जो छेदसूत्रकार श्रुतकेवलीभद्रबाहु से भिन्न हैं। इनका समय विक्रम सं. 562 के लगभग है। ये अष्टांगनिमित्त मंत्रविद्या के पारगामी अर्थात् नैमित्तिक के रूप में भी प्रसिद्ध हैं, इन्होंने अपने भाई के साथ धार्मिक स्पर्धाभाव रखते हुये "भद्रबाहु संहिता" एवं "उपसर्गहरस्तोत्र" की रचना की। इन दो ग्रन्थों के अतिरिक्त इन्होंने निम्न दस निर्युक्तियों की रचना की--

1. आवश्यकनिर्युक्ति	4. आचारांगनिर्युक्ति	7. कल्प(बृहत्कल्प)निर्युक्ति	10. ऋषिभाषितनिर्युक्ति
2. दशवैकालिकनिर्युक्ति	5. सूत्रकृतांगनिर्युक्ति	8. व्यवहारनिर्युक्ति	
3. उत्तराध्ययननिर्युक्ति	6. दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति	9. सूर्यप्रज्ञप्तिनिर्युक्ति	

आचार्यभद्रबाहु की इन दस निर्युक्तियों का रचनाक्रम वही है जिस क्रम में उन्होंने आवश्यकनिर्युक्ति में निर्युक्तिरचनाप्रतिज्ञा की है।[8] निर्युक्तियों में जो नाम, विषय आदि आये हैं, वे भी इस तथ्य को प्रकट करते हैं।[9]

इन दस निर्युक्तियों में से सूर्यप्रज्ञप्ति और ऋषिभाषित की निर्युक्तियाँ अनुपलब्ध हैं। ओघनिर्युक्ति, पिण्डनिर्युक्ति, पंचकल्पनिर्युक्ति और निशीथनिर्युक्ति क्रमशः आवश्यकनिर्युक्ति, दशवैकालिकनिर्युक्ति, वृहत्कल्पनिर्युक्ति और आचारांगनिर्युक्ति की पूरक हैं। संसक्तनिर्युक्ति क्रमशः आवश्यक, दशवैकालिक, वृहत्कल्प और आचारांगनिर्युक्ति की पूरक हैं। संसक्तनिर्युक्ति बाद के किसी आचार्य की रचना है। गोविन्दाचार्य प्रणीत गोविन्दानिर्युक्ति भी वर्तमान में अनुपलब्ध है।

आवश्यकनिर्युक्ति

आचार्यभद्रबाहु प्रणीत दस निर्युक्तियों में आवश्यकनिर्युक्ति की रचना सर्वप्रथम हुई है। यही कारण है कि यह निर्युक्ति कथ्य, शैली आदि सभी दृष्टियों से अधिक महत्त्वपूर्ण है। इस निर्युक्ति में अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों की विशद एवं व्यवस्थित व्याख्या की गई है। इसके बाद की निर्युक्तियों में उन विषयों की संक्षिप्त चर्चा करते हुये विस्तृत व्याख्या के लिये आवश्यकनिर्युक्ति की ओर संकेत कर दिया गया है। इस दृष्टि से अन्य निर्युक्तियों को समझने के लिये आवश्यकनिर्युक्ति का ज्ञान आवश्यक है। जैन आगमिक साहित्य में आवश्यकसूत्र का विशेष स्थान है। इसमें छः अध्ययन हैं। प्रथम अध्ययन का नाम सामायिक है। शेष पाँचों अध्ययन के नाम चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान हैं। आवश्यकनिर्युक्ति इसी सूत्र की आचार्यभद्रबाहुकृत पद्यात्मक प्राकृत व्याख्या है। इसी व्याख्या के प्रथम अंश अर्थात् सामायिक अध्ययन से सम्बन्धित निर्युक्ति की विस्तृत व्याख्या आचार्यजिनभद्र ने विशेषावश्यकभाष्य नाम से की है। इस भाष्य की भी अनेक व्याख्यायें हुई हैं, जिनमें मलधारी हेमचन्द्रकृत व्याख्या विशेष प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त आवश्यकनिर्युक्ति पर अनेक टीकाएँ लिखी गईं हैं जो प्रकाशित भी हैं। उनमें से मलयगिरिकृतवृत्ति, हरिभद्रकृतवृत्ति, मलधारी हेमचन्द्रकृत प्रदेशव्याख्या तथा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चन्द्रसूरिकृत प्रदेशव्याख्याटिप्पण, माणिक्यशेखरकृत आवश्यकनिर्युक्तिदीपिका, जिनदासगणि महत्तरकृतचूर्णि एवं विशेषावश्यक की जिनभद्र की स्वोपज्ञवृत्ति प्रमुख हैं।

उपोद्घात् -- आवश्यकनिर्युक्ति के प्रारम्भ में उपोद्घात है, इसे इस ग्रन्थ की भूमिका कहा जा सकता है। इसमें 880 गाथाएँ हैं। उपोद्घात में आभिनिबोधिक, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल इन पाँच प्रकार के ज्ञान, इनके अवान्तर भेद, प्रत्येक का काल-प्रमाण, आभिनिबोधिक ज्ञान की निमित्तभूत पाँच इन्द्रियाँ, आभिनिबोधिक ज्ञान के समानार्थक शब्द, अक्षर, संज्ञी, सम्यक्, सादिक, सपर्यवसित, गमिक, अंगप्रविष्ट, अनक्षर, असंज्ञी, मिथ्या, अनादिक, अपर्यवसित, अगमिक और अंगबाह्य[10] इन चौदह प्रकार के निक्षेपों के आधार पर श्रुतज्ञान, उसके स्वरूप व भेद एवं अवधि तथा मनःपर्ययज्ञान के स्वरूप व प्रकृतियों की विशद विवेचना की गई है। इसे ज्ञानाधिकार भी कहते हैं। इसके बाद षडावश्यकों में से सामायिक को सम्पूर्णश्रुत के आदि में रखते हैं। इसका कारण यह है कि श्रमण के लिये सामायिक का अध्ययन सर्वप्रथम अनिवार्य है। सामायिक के अध्ययन के पश्चात् ही अन्य आगम साहित्य के पढ़ने का विधान है।[11] चारित्र का प्रारम्भ ही सामायिक से होता है, इसलिये चारित्र की पाँच भूमिकाओं में प्रथम भूमिका सामायिक चारित्र की है।

ज्ञान और चारित्र के पारस्परिक सम्बन्ध की चर्चा करते हुये, आचार्य ने यही सिद्ध किया है कि मुक्ति के लिये ज्ञान और चारित्र दोनों अनिवार्य है। चारित्रविहीन ज्ञान और ज्ञानविहीन चारित्र एक-दूसरे से दूर आग से घिरे हुए अन्धे और लंगड़े के समान हैं, जो एक-दूसरे के अभाव में अपने मन्तव्य पर नहीं पहुँच सकते।[12] अतः ज्ञान व चारित्र के संतुलित समन्वय से ही मोक्ष प्राप्ति होती है। इसके बाद आचार्य सामायिक के अधिकारी की पात्रता, उसका क्रमशः विकासक्रम, कर्मों के क्षयोपशम एवं मोक्ष प्राप्ति कैसे होती है ? आदि प्रश्नों, एवं तज्जनित शंकाओं के समाधान के साथ उपशम एवं क्षपक श्रेणी का विस्तृत वर्णन किया है। इसके पश्चात् आचार्य शिष्य की योग्यता के मापदण्ड का व्याख्यान विधि से निरूपण करते हुए अपने मुख्य विषय सामायिक का व्याख्यान प्रारम्भ किया है, जिसे उन्होंने उद्देश्य, निर्देश, निर्गम, क्षेत्र, काल, पुरुष, कारण, प्रत्यय आदि छब्बीस निक्षेपों के आधार पर व्याख्यायित किया है। इस क्रम में निर्गम की चर्चा करते हुये भगवान महावीर के मिथ्यात्वादि से निर्गमन, उनके पूर्व भव, ऋषभदेव से पूर्व होने वाले कुलकर, ऋषभदेव के पूर्वभव, उनकी जीवनी एवं चारित्र का वर्णन करते हुये निर्युक्तिकार ने भगवान महावीर के जन्म एवं उनके जन्म से सम्बन्ध रखने वाली तेरह घटनाओं -- स्वप्न, गर्भापहार, अभिग्रह, जन्म, अभिषेक, वृद्धि, जातिस्मरणज्ञान, भयोत्पादन, अपत्य, दान, सम्बोध और महाभिनिष्क्रमण[12] तथा उनके इन्द्रभूति आदि ग्यारह गणधरों[14] का भी उल्लेख किया है।

इसके पश्चात् आचार्य ने सामायिकसूत्र के प्रारम्भ में आने वाले नमस्कार मंत्र की उत्पत्ति, निक्षेप, पद, पदार्थ, प्ररूपणा, वस्तु, आक्षेप, प्रसिद्धि, क्रम प्रयोजन और फल[15] इन ग्यारह द्वारों से व्याख्या की है। पंचनमस्कार के बाद सामायिक किस प्रकार करनी चाहिए ?[16] सामायिक का लाभ कैसे होता है ?[17] सामायिक का उद्देश्य क्या है ?[18] आदि प्रश्नों का विशद विवेचन आचार्य ने किया है।

चतुर्विंशतिस्तव -- आवश्यकसूत्र का दूसरा अध्ययन चतुर्विंशतिस्तव है। चतुर्विंशति शब्द की नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इन छः निक्षेपों एवं स्तव शब्द की चार प्रकार के निक्षेपों से व्याख्या की गई है। चतुर्विंशतिस्तव के लिये आवश्यकसूत्र में "लोगस्सुज्जोयगरे" का पाठ है। इसकी निर्युक्ति करते हुये आचार्य भद्रबाहु ने लोक शब्द की नाम, स्थापना, काल, भाव, द्रव्य, क्षेत्र, भव और पर्याय[19] -- इन आठ प्रकार के निक्षेपों से व्याख्या की है। इसके अतिरिक्त दो प्रकार के उद्योत[20], श्रमणधर्म, धर्म के भेद एवं अवान्तर भेद, तीर्थ, जिन, अरिहन्त आदि शब्दों की व्याख्या करते हुये, अन्त में निर्युक्तिकार ने चौबीस तीर्थंकरों की निक्षेप पद्धति से व्याख्या कर उनके गुणों पर भी प्रकाश डाला है।[21]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वन्दना -- तृतीय अध्ययन का नाम वन्दना है। इस अध्ययन की निर्युक्ति करते हुये सर्वप्रथम आचार्य ने वन्दना के वन्दनाकर्म, चितिकर्म, कृतिकर्म, पूजाकर्म और विनयकर्म इन पाँच पर्यायों का उल्लेख किया है। इस अध्ययन में वन्दना का नौ द्वारों से विचार किया गया है -- 1. वन्दना किसे करनी चाहिए ? 2. किसके द्वारा होनी चाहिए ? 3. कब होनी चाहिए ? 4. कितनी बार होना चाहिए ? 5. वन्दना करते समय कितनी बार झुकना चाहिए ? 6. कितनी बार सिर झुकाना चाहिए ? 7. कितने आवश्यकों से शुद्ध होना चाहिए ? 8. कितने दोषों से मुक्त होना चाहिए ? एवं 9. वन्दना किसलिये करनी चाहिए ?[22] इन द्वारों का निर्देश करने के बाद वन्द्यावन्द्य का भी सविस्तार विवेचन किया गया है। जो द्रव्य व भाव से सुश्रमण है वही वन्द्य है।[23] इस क्रम में ज्ञान, दर्शन और चारित्र के विभिन्न अंगों का विचार करने के बाद आचार्य इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जो दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप, विनय आदि में हमेशा लगे रहते हैं, वही वन्दनीय है और उन्हीं से जिनप्रवचन का यश फैलता है।[24] वन्दना करने वाला पंचमहाव्रती, आलस्यरहित, मानपरिवर्जितमति, संविग्न और निर्जरार्थी होता है।[25] वन्दना के मूलपाठ "इच्छामिखमासमणो" की सूत्रस्पर्शी व्याख्या करते हुये निर्युक्तिकार ने (1) इच्छा, (2) अनुज्ञापना, (3) अव्याबाध, (4) यात्रा, (5) यापना और (6) अपराधक्षमणा इन छः स्थानों की निर्युक्ति[26] निक्षेपों के आधार पर करके वंदनाध्ययन की निर्युक्ति को यहीं विश्राम दे दिया है।

प्रतिक्रमण

प्रतिक्रमण नामक यह चतुर्थ अध्ययन है। प्रतिक्रमण की व्याख्या करते हुये आचार्य ने स्पष्ट किया है कि-- प्रमाद के कारण आत्मभाव से जो आत्मा मिथ्यात्व आदि पर-स्थान में चला जाता है, उसका पुनः अपने स्थान में आना प्रतिक्रमण है।[27] प्रतिचरणा, परिहरणा, वारणा, निवृत्ति, निन्दा, गर्हा, शुद्धि[28] -- ये प्रतिक्रमण के पर्याय हैं। प्रतिक्रमण पर तीन दृष्टियों से विचार किया गया है-- (1) प्रतिक्रमणरूप क्रिया, (2) प्रतिक्रमण का कर्त्ता अर्थात् प्रतिक्रामक और (3) प्रतिकमितव्य अशुभयोग रूप कर्म। जीव पापकर्मयोगों का प्रतिक्रामक है। इसलिये जो ध्यान आदि प्रशस्त योग है, उनका साधु को प्रतिक्रमण नहीं करना चाहिए। प्रतिक्रमण, दैवसिक, रात्रिक, इत्वरिक, यावत्कथिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, सांवत्सरिक, उत्तमार्थक आदि अनेक प्रकार का होता है। पंचमहाव्रत, रात्रिभुक्तिविरति, भक्तपरिज्ञा आदि ऐसे प्रतिक्रमण हैं, जो यावत्काथिक या जीवन भर के लिये हैं। सामान्यतः उच्चार-मूत्र, कफ, नसिकामल, आभोग, अनाभोग, सहसाकार आदि क्रियाओं के उपरान्त प्रतिक्रमण आवश्यक है।[29] इसके अतिरिक्त इस अध्ययन में आचार्य ने प्रतिषिद्ध विषयों का आचरण करने, विहित विषयों का आचरण न करने, जिनोक्त वचनों में श्रद्धा न रखने तथा विपरीत प्ररूपणा करने पर प्रतिक्रमण करने का निर्देश[30] देते हुए आलोचना निरपलाप आदि बत्तीस योगों की चर्चा की है।[31] तदनन्तर अस्वाध्यायिक की निर्युक्ति, अस्वाध्याय के भेद-प्रभेद एवं तज्जनित परिणामों की चर्चा की गई है।

कायोत्सर्ग -- यह आवश्यकसूत्र का पाँचवाँ अध्ययन है। कायोत्सर्ग की निर्युक्ति करने के पूर्व आचार्य ने प्रायश्चित्त के आलोचना, प्रतिक्रमण, मिश्र, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, मूल, अनवस्थाप्य और पारांचिक इन दस भेदों का निरूपण किया है। कायोत्सर्ग एवं व्युत्सर्ग एकार्थक हैं। यहाँ कायोत्सर्ग का अर्थ व्रणचिकित्सा है जो कायोत्थ और परोत्थ दो प्रकार की होती है। जैसा व्रण होता है, वैसी ही उसकी चिकित्सा होती है। कायोत्सर्ग में दो पद हैं -- काय और उत्सर्ग। काय का निक्षेप बारह प्रकार से किया गया है। ये हैं -- (1) नाम, (2) स्थापना, (3) शरीर, (4) गति, (5) निकाय, (6) आस्तिकाय, (7) द्रव्य, (8) मातृका, (9) संग्रह, (10) पर्याय, (11) भार एवं (12) भाव। उत्सर्ग का निक्षेप-- (1) नाम, (2) स्थापना, (3) द्रव्य, (4) क्षेत्र, (5) काल और (6) भाव रूप से छः प्रकार का है। कायोत्सर्ग के चेष्टाकायोत्सर्ग एवं अभिभवकायोत्सर्ग नामक दो विधान हैं। भिक्षाचर्या आदि में होने वाला चेष्टाकायोत्सर्ग एवं उपसर्ग आदि में होने वाला अभिभवकायोत्सर्ग

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है।[32] अभिभव कायोत्सर्ग की काल मर्यादा अधिकतम एक वर्ष एवं न्यूनतम अन्तर्मुहूर्त है।[33] इसके अतिरिक्त इस अध्ययन में निर्युक्तिकार ने कायोत्सर्ग के भेद परिमाण[34], गुण, ध्यान का स्वरूप एवं भेद[35], कायोत्सर्ग के विविध-अतिचार शुद्धि-उपाय, शठ एवं अशठ द्वार[36], कायोत्सर्ग की विधि[37], घोटकलत आदि उन्नीस दोष[38], कायोत्सर्ग के अधिकारी एवं कायोत्सर्ग के परिणाम[39] की विस्तृत विवेचना की है।

प्रत्याख्यान -- आवश्यकसूत्र का षष्ठ अध्ययन प्रत्याख्यान के रूप में है। आचार्यभद्रबाहु ने प्रत्याख्यान का निरूपण छः दृष्टियों से किया है। (1) प्रत्याख्यान, (2) प्रत्याख्याता, (3) प्रत्याख्येय, (4) पर्षद, (5) कथनविधि एवं (6) फल।[40] प्रत्याख्यान के छः भेद हैं-- (1) नामप्रत्याख्यान, (2) स्थापनाप्रत्याख्यान, (3) द्रव्यप्रत्याख्यान, (4) आदित्साप्रत्याख्यान, (5) प्रतिषेधप्रत्याख्यान एवं (6) भावप्रत्याख्यान प्रत्याख्यान से आस्रव का निरुन्धन एवं समता की सरिता में अवगाहन होता है। प्रत्याख्यातव्य, द्रव्य व भाव रूप से दो प्रकार का होता है। अशनादि का प्रत्याख्यान प्रथम द्रव्यप्रत्याख्याण्य है एवं अज्ञानादि का प्रत्याख्यान भावप्रत्याख्यातव्य है। प्रत्याख्यान के अधिकारी को बताते हुए आचार्य ने कहा है कि प्रत्याख्यान का वही अधिकारी है जो विनीत एवं अव्यक्षिप्तरूप हो। अन्त में प्रत्याख्यान के फल की विवेचना की गई है।

आवश्यकनिर्युक्ति के इस विस्तृत विवेचन से सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि जैननिर्युक्ति ग्रन्थों में आवश्यकनिर्युक्ति का कितना महत्त्व है। श्रमण जीवन की सफल साधना के लिये अनिवार्य सभी प्रकार के विधि-विधानों का संक्षिप्त, सुव्यवस्थित एवं मर्मस्पर्शी निरूपण आवश्यकनिर्युक्ति की एक बहुत बड़ी विशेषता है।

2. दशवैकालिकनिर्युक्ति

इस निर्युक्ति के आरम्भ में आचार्य ने सर्वसिद्धों को नमस्कार करके इसकी रचना करने की प्रतिज्ञा की है।[41] "दश" और "काल" इन दो पदों से सम्बन्ध रखने वाले दशवैकालिक की निक्षेप पद्धति से व्याख्या करते हुये आचार्य ने बताया है कि "दश" का प्रयोग इसलिये किया गया है क्योंकि इसमें "दस" अध्ययन है एवं "काल" का प्रयोग इसलिए है कि इस सूत्र की रचना उस समय हुई जबकि पौरुषी व्यतीत हो चुकी थी अथवा जो दस अध्ययन पूर्वों से उद्घृत किये गये, उनका सुव्यवस्थित निरूपण विकाल अर्थात् अपराह्न में किया गया। इसीलिए इस सूत्र का नाम दशवैकालिक रखा गया। इस सूत्र की रचना मनक नामक शिष्य के हेतु आचार्यशयम्भव ने की।[42] दशवैकालिक में द्रुमपुष्पिका आदि दस अध्ययन हैं।

प्रथम अध्ययन में धर्म की प्रशंसा करते हुये उसके लौकिक और लोकोत्तर ये दो भेद एवं उनके अवान्तर भेदों को बताया गया है।[43] द्वितीय अध्ययन[44] में धृति की स्थापना की गई है। तृतीय अध्ययन[45] में क्षुल्लकाचार अर्थात् लघु-आचार कथा का अधिकार है। चौथे अध्ययन[46] में आत्मसंयम के लिये षड्जीवरक्षा का उपदेश दिया गया है। पिण्डैषणा नामक पंचम अध्ययन[47] की निर्युक्ति में आचार्य ने "पिण्ड" और "एषणा" इन दो पदों की निक्षेपरूप से व्याख्या करते हुये भिक्षाविशुद्धि के विषय में विशद विवेचना की है। छठें अध्ययन[48] में बृहद आचार कथा का प्रतिपादन है। सप्तम अध्ययन[49] वचन विभक्ति का अधिकार है। अष्टम अध्ययन[50] प्राणिधान अर्थात् विशिष्ट चित्तधर्म सम्बन्धी है। नवम्[51] अध्ययन में विनय का एवं दसवें[52] अध्ययन में भिक्षु का अधिकार है। इन अध्ययनों के अतिरिक्त इस सूत्र में दो चूलिकाएँ हैं -- प्रथम चूलिका में संयम में स्थिरीकरण का और दूसरी में विविक्तचर्या का वर्णन है। दशवैकालिकनिर्युक्ति पर अनेक टीकाएँ एवं चूर्णि लिखीं गईं हैं, जिनमें जिनदासगणिमहत्तर की चूर्णि अधिक प्रसिद्ध है।

3. उत्तराध्ययननिर्युक्ति

दशवैकालिक की भाँति इस निर्युक्ति में भी अनेक पारिभाषिक शब्दों की निक्षेप दृष्टि से व्याख्या की गई है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसमें 607 गाथाएँ हैं। उत्तराध्ययनसूत्र में भगवान जिनेन्द्र के उपदेश 36 अध्ययनों में संग्रहीत हैं। उत्तराध्ययन के "उत्तर" पद का अर्थ क्रमोत्तर बत अध्ययन पद का अर्थ बताते हुये कहा गया है कि जिससे जीवादि पदार्थों का अधिगम अर्थात् परिच्छेद होता है या जिससे शीघ्र ही अभीष्ट अर्थ की सिद्धि होती है, वही अध्ययन[53] है। चूँकि अध्ययन से अनेक भवों से आते हुये कर्मरज का क्षय होता है, इसलिए उसे भावाध्ययन कहते हैं। इसके पश्चात् आचार्य ने श्रुतस्कंध[54] का निक्षेप करते हुए विनयश्रुत, परिषह, चतुरंगीय, असंस्कृत आदि छत्तीस अध्ययनों की विवेचना की है। इस निर्युक्ति में शिक्षाप्रद कथानकों की बहुलता है। जैसे -- गंधार, श्रावक, तोसलिपुत्र, स्थूलभद्र, कालक, स्कन्दपुत्र, पराशरऋषि, करकण्डु आदि प्रत्येकबुद्ध एवं हरिकेश मृगापुत्र आदि की कथाओं का संकेत है। इसके अतिरिक्त निह्नव, भद्रबाहु के चार शिष्यों एवं राजगृह के वैभार पर्वत की गुफा में शीतपरीषहों से एवं मच्छरों के घोर उपसर्ग से कालगत होने का भी वर्णन है। इसमें अनेक उक्तियाँ सूक्तों के रूप में हैं। जैसे -- "भावाम्मि उ पव्वज्जा आरम्भपरिग्गहच्चाओ[55] अर्थात् हिंसा व परिग्रह का त्याग ही भावप्रवज्या है। काव्यात्मक एवं मनोहारी स्थलों का भी अभाव इस निर्युक्ति में नहीं है। जैसे --

अविरुग्गयए सूरिए
चइयथूम गय वायसे
भित्ती गमए व आपने
साहि सुहिओ हु जणो न वुज्झई।[56]

अर्थात् सूर्य का उदय हो चुका है, चैत्यस्तम्भ पर बैठ-बैठ कर काग बोल रहे हैं, सूर्य का प्रकाश दीवारों पर चढ़ गया है किन्तु फिर भी हे सखि ! यह अभी सो ही रहे हैं।

4. आचारांगनिर्युक्ति

उत्तराध्ययननिर्युक्ति के पश्चात् एवं सूत्रकृतांगनिर्युक्ति के पूर्व रचित यह निर्युक्ति आचारांगसूत्र के दोनों श्रुतस्कन्धों पर है। इसमें 347 गाथाएँ हैं। आचारांगनिर्युक्ति के प्रारम्भ में मंगलगाथा है, जिसमें सर्वसिद्धों को नमस्कार कर इसकी रचना करने की प्रतिज्ञा की गई है।[57] तत्पश्चात् आचार, अंग श्रुत, स्कन्ध, ब्रह्म, चरण, शस्त्र-परिज्ञा, संज्ञा और दिशा का निक्षेप किया गया है।

आचारांग का प्रवर्त्तन सभी तीर्थंकरों ने तीर्थ प्रवर्त्तन के आदि में किया एवं शेष ग्यारह अंगों का आनुपूर्वी से निर्माण हुआ[58], ऐसा आचार्य का मत है। आचारांग द्वादशांगी में प्रथम क्यों है, इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा गया है कि इसमें मोक्ष के उपाय का प्रतिपादन किया गया है, जो कि सम्पूर्ण प्रवचन का सार है।[59] अंगों का सार आचारांग है, आचारांग का सार अनुयोगार्थ, अनुयोगार्थ का सार प्ररूपणा, प्ररूपणा का सार चरण, चरण का सार निर्वाण एवं निर्वाण का सार अव्याबाध है, जो साधक का अन्तिम ध्येय है।[60] आचारांग में नौ ब्रह्मचर्याभिधायी अध्ययन, अठारह हजार पद एवं पाँच चूड़ाएँ हैं।[61]

नौ अध्ययनों में प्रथम का अधिकार जीव संयम है, द्वितीय का कर्मविजय, तृतीय का सुख-दुःख तितिक्षा, चतुर्थ का सम्यकत्व की दृढ़ता, पंचम का लोकसाररत्नत्रयाराधना, षष्ठ का निःसंगता, सप्तम् का मोहसमत्थ परीषहोपसर्ग सहनता, अष्टम् का निर्वाण अर्थात् अन्तक्रिया एवं नवम् का जिनप्रतिपादित अर्थश्रद्धान है।

द्वितीय उद्देशक में पृथ्वी आदि का निक्षेप पद्धति से विचार करते हुये उनके विविध भेद-प्रभेदों की चर्चाएँ की गई हैं। इसमें वध को कृत, कारित एवं अनुमोदित तीन प्रकार का बताते हुए अपकाय, तेजस्काय, वनस्पतिकाय, त्रसकाय और वायुकाय जीवों की हिंसा के सम्बन्ध में चर्चा की गयी है।

द्वितीय अध्ययन लोक विजय हैं, जिसमें कषाय विजय को ही लोकविजय कहा गया है।[62]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तृतीय अध्ययन शीतोष्णीय है, जिसमें शीत व उष्ण पदों का निक्षेप विधि से व्याख्यान करते हुए स्त्री परीषह एवं सत्कार परीषह को शीत एवं शेष बीस को उष्णपरीषह बताया गया है।[63]

सम्यकत्व नामक चतुर्थ अध्ययन के चारों उद्देशकों में क्रमशः सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान, सम्यक्-तप एवं सम्यक्-चारित्र का विश्लेषण किया गया है।[64]

पंचम अध्ययन लोकसार के छः उद्देशकों में यह बताया गया है कि सम्पूर्ण लोक का सार धर्म, धर्म का सार ज्ञान, ज्ञान का सार संयम और संयम का सार निर्वाण है।[65]

धूत नामक षष्ट अध्ययन के पाँच उद्देशक हैं जिसमें वस्त्रादि के प्रक्षालन को द्रव्य धूत एवं आठ प्रकार के कर्मों के क्षय को भावधूत[66] बताया गया है। सप्तम अध्ययन व्यवच्छिन्न है। अष्टम् अध्ययन विमोक्ष के आठ उद्देशक हैं। विमोक्ष का नामादि छः प्रकार का निक्षेप करते हुए भावविमोक्ष के देशविमोक्ष व सर्वविमोक्ष दो प्रकार बताये गये हैं। साधु देशविमुक्त एवं सिद्ध सर्वविमुक्त है।[67]

नवम अध्ययन उपधानश्रुत में निर्युक्तिकार ने बताया है कि तीर्थंकर जिस समय उत्पन्न होता है वह उस समय अपने तीर्थ में उपधानश्रुताध्ययन में तपः कर्म का वर्णन करता है।[68] उपधान के द्रव्योपधान एवं भावोपधान दो भेद किये गये हैं।

द्वितीय श्रुतस्कन्ध -- प्रथम श्रुतस्कन्ध में जिन विषयों पर चिन्तन किया गया है, उन विषयों के सम्बन्ध में जो कुछ अवशेष रह गया था या जिनके समस्त विवक्षित अर्थ का अभिधान न किया जा सका, उसका वर्णन द्वितीय श्रुतस्कन्ध में है। इसे अग्रश्रुतस्कन्ध भी कहते हैं।

चूलिकाओं का परिमाण इस प्रकार है -- "पिण्डैषणा" से लेकर "अवग्रह प्रतिमा" अध्ययन पर्यन्त सात अध्ययनों की प्रथम चूलिका, सप्तसप्ततिका नामक द्वितीय चूलिका, भावना नामक तृतीय, विमुक्ति नामक चतुर्थ एवं निशीथ नामक पंच चूलिका है।[69]

5. सूत्रकृतांगनिर्युक्ति

इस निर्युक्ति में 205 गाथाएँ हैं। प्रारम्भ में सूत्रकृतांग[70] शब्द की व्याख्या के पश्चात् अम्ब, अम्बरीष, श्याम, शबल, रुद्र, अवरुद्र, काल, महाकाल, असिपल, धनु, कुम्भ, बालुक, वैतरणी, खरस्वर और महाघोष नामक पन्द्रह परमाधार्मिकों के नाम गिनाये गये हैं। गाथा 119 में आचार्य ने 363 मतान्तरों का निर्देश किया है, जिसमें 180 क्रियावादी, 84 अक्रियावादी, 67 अज्ञानवादी और 32 वैनयिक हैं। इसके अतिरिक्त शिष्य और शिक्षक के भेद-प्रभेदों की भी विवेचना की गई है।[71]

6. दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति

यह निर्युक्ति दशाश्रुतस्कन्ध नामक छेदसूत्र पर है। प्रारम्भ में निर्युक्तिकार ने दशा, कल्प और व्यवहार श्रुत के कर्त्ता सकलश्रुतज्ञानी श्रुतकेवली आचार्यभद्रबाहु को नमस्कार किया है।[72] तदनन्तर दस अध्ययनों के अधिकारों का वर्णन किया है। प्रथम अध्ययन असमाधिस्थान की निर्युक्ति में द्रव्य व भाव समाधि की विवेचना की गई है। द्वितीय अध्ययन शबल की निर्युक्ति में चार निक्षेपों के आधार पर शबल की व्याख्या करते हुये आचार से भिन्न अर्थात् अंशतः गिरे व्यक्ति को भावशबल कहा गया है।

तृतीय अध्ययन आशातना की निर्युक्ति में मिथ्या प्रतिपादन सम्बन्धी एवं लाभ सम्बन्धी दो आशातना की चर्चा की गई है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गणिसंपदा नामक चतुर्थ अध्ययन में गणि एवं संपदा पदों की व्याख्या करते हुए "गणि" व "गुणी" को एकार्थक बताया गया है। आचार को प्रथम गणिस्थान दिया गया है क्योंकि इसके अध्ययन से श्रमण धर्म का ज्ञान होता है। संपदा के द्रव्य व भाव दो भेद करते हुए आचार्य ने शरीर संपदा को द्रव्यसंपदा एवं आचारसंपदा को भावसंपदा का नाम दिया है।[73]

चित्तसमाधिस्थान नामक पंचम् अध्ययन की निर्युक्ति में उपासक एवं प्रतिमा का निक्षेपपूर्वक विवेचन किया गया है। चित्त व समाधि की चार निक्षेपों के आधार पर व्याख्या करते हुए राग-द्वेषरहित चित्त के विशुद्ध धर्म-ध्यान में लीन होने की अवस्था को भावसमाधि कहा गया है।

उपासकप्रतिमा नामक षष्ठ अध्ययन में "उपासक" और "प्रतिमा" का निक्षेपपूर्वक चिन्तन करते हुए उपासक के द्रव्योपासक, तदर्थोपासक, मोहोपासक एवं भावोपासक रूप चार भेदों एवं श्रमणोपासक की ग्यारह प्रतिमाओं का निरूपण किया गया है।

सप्तम् अध्ययन भिक्षुप्रतिमा का है इसमें भाव भिक्षु की समाधिप्रतिमा, उपधानप्रतिमा, विवेकप्रतिमा, प्रतिसंलीनप्रतिमा एवं एक बिहारप्रतिमा का उल्लेख है।

अष्टम् अध्ययन की निर्युक्ति में पर्यूषणाकल्प का व्याख्यान किया गया है। परिवसना, पर्यूषणा, वर्षावास, प्रथमसमवरण आदि को एकार्थक कहा गया है।

नवम् अध्ययन मोहनीय स्थान का है, जिसमें मोहनामादि भेद से चार प्रकार का है। पाप, वैर, वर्ज्य, पंक, असाह, संग आदि मोह के पर्यायवाची हैं, ऐसा उल्लेख किया गया है।

अजाति स्थान नामक दशम् अध्ययन में अजाति अर्थात् जन्म-मरण से विमुक्ति-मोक्ष कैसे प्राप्त होता है, का विशद विवेचन किया गया है।

7. बृहत्कल्पनिर्युक्ति

यह निर्युक्तिभाष्यमिश्रित अवस्था में मिलती है। सर्वप्रथम तीर्थंकरों को नमस्कार किया गया है।[74] तदुपरान्त ज्ञान और मंगल में कथंचित भेद-अभेद करते हुए ज्ञान के विविध भेदों का निर्देश किया गया है। मंगल के नाममंगल, स्थापनामंगल, द्रव्यमंगल एवं भावमंगल[75] की निक्षेप पद्धति से व्याख्या करते हुए अनुयोग, उपक्रम, अनुगम और नय इन चार अनुयोग द्वारों की चर्चा की गई है। इसके अतिरिक्त निर्युक्तिकार ने सपरिग्रह-अपरिग्रह, जिनकाल्पिक एवं स्थविरकाल्पिक के आहार-विहार की चर्चा करते हुए आर्यक्षेत्र के बाहर विचरण करने से लगने वाले दोषों का स्कन्दकाचार्य के दृष्टान्त के साथ दिग्दर्शन कराया है। साथ ही ज्ञान, दर्शन और चारित्र की रक्षा और वृद्धि के लिये आर्य क्षेत्र के बाहर विचरण की आज्ञा एवं संप्रतिराज के दृष्टान्त से उसके समर्थन[76] का भी उल्लेख मिलता है। यह निर्युक्ति स्वतन्त्र न रहकर बृहत्कल्पभाष्य में मिश्रित हो गई है।

8. व्यवहारनिर्युक्ति

बृहत्कल्प में श्रमण जीवन की साधना का जो शब्द-चित्र प्रस्तुत किया गया एवं उत्सर्ग व अपवाद का जो विवेचन किया गया, उन्हीं विषयों पर व्यवहार में भी चिन्तन किया गया है। यही कारण है कि व्यवहारनिर्युक्ति में अधिकतर उन्हीं अथवा उसी प्रकार के विषयों का विवेचन है जो बृहत्कल्पनिर्युक्ति में उपलब्ध हैं। अतः ये दोनों निर्युक्तियाँ एक-दूसरे की पूरक हैं।

9. सूर्यप्रज्ञप्तिनिर्युक्ति एवं 10. ऋषिभाषितनिर्युक्ति अनुपलब्ध है, जिसकी अन्य निर्युक्तियों के साथ संक्षिप्त परिचयात्मक चर्चा करेंगें।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्य निर्युक्तियाँ -- उपलब्ध इन आठ निर्युक्तियों के अतिरिक्त कुछ और निर्युक्तियाँ भी हैं, जो निम्न हैं --

संसक्तनिर्युक्ति -- यह निर्युक्ति किस आगम पर लिखी गई है, इस सम्बन्ध में कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता। कितने ही विद्वान इसे भद्रबाहु की रचना मानते हैं, कितने उनके बाद के किसी आचार्य की रचना मानते हैं। चौरासी आगमों में इसका भी उल्लेख है।

निशीथनिर्युक्ति -- यह निर्युक्ति एक प्रकार से आचारांगनिर्युक्ति का एक अंग है, क्योंकि आचारांगनिर्युक्ति के अन्त में स्वयं निर्युक्तिकार ने लिखा है कि पंचमचूलिकानिशीथ की निर्युक्ति मैं बाद में करूँगा।[77] यह निर्युक्ति निशीथभाष्य में इस प्रकार से समाविष्ट हो गई है कि इसे अलग नहीं किया जा सकता, इसमें मुख्य रूप से श्रमणाचार का उल्लेख है।

गोविन्दनिर्युक्ति -- इस निर्युक्ति में दर्शन सम्बन्धी मन्तव्यों पर प्रकाश डाला गया है। आचार्य गोविन्द ने एकेन्द्रिय जीवों की संसिद्धि के लिये इसका निर्माण किया था। यह किसी एक आगम पर न होकर स्वतन्त्र रचना है। बृहत्कल्पभाष्य, आवश्यकचूर्णि एवं निशीथचूर्णि में इसका उल्लेख मिलता है। यह वर्तमान में यह उपलब्ध नहीं है।

आराधनानिर्युक्ति -- यह भी वर्तमान में उपलब्ध नहीं है। चौरासी आगमों में "आराधनापताका" नामक एक आगम है, सम्भव है यह निर्युक्ति उसी पर हो। मूलाचार में वट्टकेरस्वामी ने इसका उल्लेख किया है।

ऋषिभाषितनिर्युक्ति -- चौरासी आगमों में ऋषिभाषित का भी नाम है। प्रत्येक बुद्धों द्वारा भाषित होने से यह ऋषिभाषित के नाम से विश्रुत है। इस पर भी भद्रबाहु ने निर्युक्ति लिखीं थीं पर वर्तमान में अनुपलब्ध हैं।

सूर्यप्रज्ञप्तिनिर्युक्ति -- यह भी वर्तमान में उपलब्ध नहीं है परन्तु आचार्य मलयगिरि की वृत्ति में इसका नाम निर्देश हुआ है। इसमें सूर्य की गति आदि तथा ज्योतिषशास्त्र सम्बन्धी तथ्यों का सुन्दर निरूपण हुआ है।

इनके अतिरिक्त पिण्डनिर्युक्ति, ओघनिर्युक्ति एवं पंचकल्पनिर्युक्ति स्वतन्त्र ग्रन्थ न होकर क्रमशः दशवैकालिक, आवश्यक और बृहत्कल्पनिर्युक्ति की ही संपूरक हैं।

इस प्रकार जैन परम्परा के महत्त्वपूर्ण विशिष्ट पारिभाषिक शब्दों की स्पष्ट व्याख्या जो निर्युक्ति साहित्य में हुई है वह अपूर्व है। इन्हीं व्याख्याओं के आधार पर बाद में भाष्यकार, चूर्णिकार एवं वृत्तिकारों ने अपने अभीष्ट ग्रन्थों का सृजन किया है। निर्युक्तियों की रचना करके भद्रबाहु ने जैन साहित्य की जो विशिष्ट सेवा की है, वह जैन आगमिक क्षेत्र में सर्वथा अविस्मरणीय है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सन्दर्भ-ग्रन्थ

1. अनुयोगद्वार, पृ. 18 और आगे
2. आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा 88
3. वही, गाथा 83
4. निश्चयेन अर्थप्रतिपादिका युक्तिनिर्युक्ति : आचारांगनिर्युक्ति, 1/2/1
5. उत्तराध्ययन की भूमिका, पृ. 50-51
6. Dr. Ghatge, Indian Historical Quarterly, Vol. 12, p. 270
7. वंदामि भद्दबाहुं पाईणं चरिमसगलसुयनाणिं।
   सुत्तस्स कारगमिसि दसासु कप्पे य ववहारे।।
   - दशाश्रुतस्कंधनिर्युक्ति, 1
8. आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा 79-86
9. गणधरवाद प्रस्तावना, पृ. 15-16
10. आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा 17-19
11. सामाइयमाइयाइं एक्कारस्स अहिज्जइ। -- अन्तःकृतदशांग प्रथमवर्ग।
12. आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा 94-103
13. वही, गाथा 459
14. वही, गाथा 594
15. वही, गाथा 881
16. वही, गाथा 1023-1034
17. वही, गाथा 1035
18. वही, गाथा 1059
19. वही, गाथा 1064
20. वही, गाथा 1066-68
21. वही, गाथा 1087-89
22. वही, गाथा 110-11
23. वही, गाथा 1145-47
24. वही, गाथा 1167-1200
25. वही, गाथा 1204
26. वही, गाथा 1223
27. स्वस्थानात्यत्परस्थानं प्रमादस्य वशाद्गहः। तत्रैव क्रमणं भूयः प्रतिक्रमणमुच्यते।
   - आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा 1236
28. वही, गाथा 1238
29. वही, गाथा 1244-46
30. वही, गाथा 1268
31. वही, गाथा 1269-1273
32. वही, गाथा 1447
33. वही, गाथा 1453

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

34. वही, गाथा 1454-55
35. वही, गाथा 1458
36. वही, गाथा 1536-38
37. वही, गाथा 1539-40
38. वही, गाथा 1541-42
39. वही, गाथा 1545
40. वही, गाथा 1550
41. (क) दशवैकालिकनिर्युक्ति, हरिभद्रीय विवरण सहित : प्रकाशक देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार, बम्बई, 1918

    (ख) निर्युक्ति व मूल : सम्पादक E. Leumann ZDMG भाग 46, पृ. 589-663
42. दशवैकालिकनिर्युक्ति, गाथा 12-15
43. वही, गाथा 26-148
44. वही, गाथा 152-177
45. वही, गाथा 178-215
46. वही, गाथा 216-231
47. वही, गाथा 232-244
48. वही, गाथा 245-262
49. वही, गाथा 269-286
50. वही, गाथा 287-294
51. वही, गाथा 309-322
52. वही, गाथा 328-347
53. उत्तराध्ययननिर्युक्ति, गाथा 5-7
54. वही, गाथा 12-26
55. शास्त्री, विजयमुनि आगम और व्याख्या साहित्य एक परिशीलन, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा 1964, पृ. 60
56. वही, पृ. 61
57. आचारांगनिर्युक्ति, गाथा 1
58. वही, गाथा 8
59. वही, गाथा 9
60. वही, गाथा 16-17
61. वही, गाथा 11
62. वही, गाथा 175
63. वही, गाथा 197-213
64. वही, गाथा 214-215
65. वही, गाथा 244
66. वही, गाथा 249-250
67. वही, गाथा 257-259
68. वही, गाथा 275
69. वही, गाथा 297

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

70. सूत्रकृतांगनिर्युक्ति, गाथा 18-20
71. वही, गाथा 127-131
72. दशाश्रुतनिर्युक्ति, 1
73. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग 3, पृ. 121
74. बृहत्कल्पनिर्युक्ति, गाथा 1
75. वही, गाथा 3-5
76. वही, गाथा 3271, 3289
77. पंचमचूलनिसीहं तस्स य उवरिं भणीहामि। आचारांगनिर्युक्ति, गाथा 347

---

* प्रवक्ता - पार्श्वनाथ शोधपीठ, वाराणसी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org